International Journal of Sanskrit Research 2022; 8(1): 64-66

International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519
IJSR 2022; 8(1): 64-66
© 2022 IJSR
www.anantaajournal.com
Received: 20-10-2021
Accepted: 05-12-2021

डॉ. शुचि अग्रवाल
एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, एस0डी0 कॉलेज, मुजफ्फरनगर, उत्तर प्रदेश, भारत

Corresponding Author:
डॉ. शुचि अग्रवाल
एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, एस0डी0 कॉलेज, मुजफ्फरनगर, उत्तर प्रदेश, भारत

संस्कृत साहित्य में गुरू – एक विवेचन

डॉ. शुचि अग्रवाल

DOI: https://doi.org/10.22271/23947519.2022.v8.i1b.1604

प्रस्तावना

'भारतीया संस्कृतिः संस्कृताश्रया भारतीय संस्कृति संस्कृताश्रित है। संस्कृत वाङ्.मय में गुरू को बहुत महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। शतपथब्राह्मणकार का कहना है कि 'मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरूषो वेद''[1] अर्थात् जिसे माता, पिता व आचार्य ये तीन उत्तम शिक्षक प्राप्त हैं, वह ही ज्ञानवान् पुरूष है। वह सन्तान बहुत भाग्यशाली होती है जिसके माता–पिता धार्मिक विद्वान् हों। जितना माता से सन्तानों को उपदेश और उपकार पहुँचता है, उतना किसी से नहीं। जैसे माता सन्तानों पर प्रेम, उनका हित करना चाहती है, उतना अन्य कोई नहीं करता। 'प्रशस्ता धार्मिकी विदुषी माता विद्यते यस्य स मातृमान्।'[2] शतपथब्राह्मणकार का कथन है – 'को वा गुरुर्यो हि हितोपदेष्टा'[3] हितोपदेश करने वाला गुरु कहलाता है।

गुरु शब्द 'गृ' धातु से 'कु' प्रत्यय करके उत्वादि करके व्याकरणनीति से निष्पन्न होता है।[4] 'गु' नाम है अन्धकार का, अज्ञान का और 'रु' कहते हैं हटाने वाले को। जो अज्ञान का नाश करता है, उसे गुरु कहते हैं।[5] याज्ञवल्क्यस्मृतिकार का कथन है – 'स गुरुर्यः क्रियाः कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति'[6] वामन शिवराम आप्टे के अनुसार पारिभाषिक रूप से गुरु वह है जो गायत्री मन्त्र का उपदेश करे और शिष्य को वेदाध्यापन करे।[7] भारतीय संस्कृति में गुरुकुल का भी बहुत महत्व है। प्राचीन काल में सभी बालक अपरिहार्य अनिवार्य रूप से गुरुकुल में अध्ययन हेतु जाते थे, यजुः श्रुति है – 'आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषोऽसत्।'[8] माता–पिता गुरुकुल में आचार्य के समीप बालक को ले जाकर प्रार्थना करते हैं – हे आचार्य! इस यज्ञोपवतीरूप पुष्करस्रक् धारण किए हुए कुमार रूप गर्भ को धारण कीजिए जिससे यह कुमार मनुष्य–समाज में पुरुष कहलाने योग्य हो। इस प्रकार अन्तेवासी और उसके अभिभावकों की प्रार्थना पर आचार्य ब्रह्मचारीरूप गर्भ को अपने उदर में ले लेता है, जिसका मनोहारी वर्णन अथर्ववेद के ब्रह्मचर्य सूक्त में इस प्रकार हुआ है – 'आचार्य उपनयमानों ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। तं रात्रीस्तिस्र उदरे विभर्ति। तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः।[9] अर्थात् आचार्य उपनयन की कामना से ब्रह्मचारी रूप गर्भ को अन्दर धारण कर लेता है और उसको तीन प्रकार की अन्धकार रूप अज्ञान रात्रियों के दूर होने तक अपने उदर में धारित करता है, पालित और पोषित करता है। तब अन्तेवासी का द्वितीय जन्म होता है। द्वितीय जन्म होने पर उसके दर्शानार्थ विद्वत्–समाज सब ओर से जुट जाता है।

आचार्य शब्द को परिभाषित करते हुए निरुक्तकार आचार्य यास्क का कथन है – 'आचार्यः कस्मात्? आचार्य आचारं ग्राहयति। आचिनोत्यर्थान्। आचिनोति बुद्धिमिति वा।।'[10] आचार्य वह है जो शिष्य को सदाचार ग्रहण करावे। जो पदार्थो का संचय करे तथा जो शिष्य की बुद्धि का संचय करे। शिक्षा के मुख्यतया तीन उद्देश्य हैं। पहला, विद्यार्थी को सदाचारी बनाना। दूसरा, विद्यार्थी के मन में पदार्थों के बोध का संचय करना और तीसरा, उसकी बुद्धि को विकसित करना। वेद की आज्ञानुसार सदाचार निर्माण ही शिक्षा का पहला उद्देश्य है। यजुर्वेद के षष्ठाध्याय में आचार्य शिष्य के प्रत्येक अंग प्रत्यंग का नाम लेकर उसकी शुद्धि का वचन देता है। वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, नाभि, उपस्थ, पायु, मन आदि को शुद्ध अर्थात् सद्धर्मानुकूल करता हूँ। अगले मन्त्र में कहा है कि हे शिष्य! मेरी शिक्षा से तेरा मन, प्राण, चक्षु, कर्ण, व्यवहार शुद्ध होकर वृद्धि को प्राप्त करें। इस प्रकार आचार्य सदाचार का उपदेश करता है। इसी मन्त्र में आचार्य के लिए 'ओषधे' ऐसा सम्बोधन कर रहा है कि हे ओषधे! प्रवर अध्यापक 'एनम् त्रायस्व' इस शिष्य की रक्षा करो और 'मा हिंसीः' व्यर्थ ताड़ना मत कीजिए।[11] इस प्रकार आचार्य सदाचार की शिक्षा के साथ ही शिष्य में जितेन्द्रियत्व को भी पोषित करता है। अथर्ववेद में कहा है – 'आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते।'[12]

अथर्ववेद में आचार्य को मृत्यु, वरुण व सोम कहा है।[13] आचार्य शिष्य को अनुशासन का पाठ पढ़ाता है। आचार्य का अनुशासन ही मृत्युरूप है।

कठोपनिषद् में नचिकेता जब अपने पिता को अदातव्य गायों को ब्राह्मणों को दान करता हुआ देखता है तो पिता को अपुण्यलोक से बचाने के लिए पिता से पूछता है कि आप मुझे किसे दान करेंगे, क्योंकि सर्वस्वदान यज्ञ में तो अपनी प्रिय वस्तु का दान किया जाता है। पिता से बार–बार पूछने के कारण पिता क्रोध में कहते हैं कि जा तुझे मृत्यु को/यम को दान किया[14] – ऐसी कथा प्रचलित है। उस कथा का भी सारांश यही है कि नचिकेता मृत्यु रूप आचार्य के पास अध्यात्म शिक्षा, अग्नि विद्या प्राप्त करने जाता है। अतः आचार्य मृत्यु है वह ही शिष्य को द्विज बनाता है। आचार्य वरुण है, क्योंकि वह शिष्य को न्यायाचरण सिखाता है। आचार्य सोम है, क्योंकि वह शिष्य को आह्लादित करता है व शील सम्पन्न बनाता है। आचार्य को वाचस्पति भी कहा जाता है। आचार्य विविध विधाओं में पारंगत होता है। ज्ञान–विज्ञान का सागर होता है। अध्यापन विधि में निष्णात होता है। दिव्य मन से युक्त व संयमप्रिय होता है। यथा – 'पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह'[15] और 'वाचस्पतिर्नियच्छतु मयेवास्तु मयि श्रुतम्।'[16] आचार्य का जीवन श्रुतिसम्पन्न व श्रुतिसम्मत होता है। वह स्वंय जितेन्द्रिय होकर शिष्य को जितेन्द्रियत्व का पाठ पढ़ाता है। अथर्ववेद में कहा है – 'संश्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि[17] तथा 'आचार्यो ब्रह्मचारी प्रजापतिः।'[18] चाणक्यनीतिकार ने कहा है कि पुत्रों को, शिष्यों को अनेक प्रकार के शुभगुणों की शिक्षा देनी चाहिए, क्योंकि नीतिज्ञ और शीलवान् व्यक्तियों की ही कुल में पूजा होती है।[19]

आचार्य का शिष्य को सदाचार व ज्ञान–विज्ञान की शिक्षा देते समय कैसा व्यवहार रहना चाहिये। इस विषय में महाभाष्यकार महर्षि पतंजलि का कथन स्मरण करना अनिवार्य है। उनका कथन है कि –

'सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः।
लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः।।[20]

जो माता, पिता और आचार्य सन्तान और शिष्यों का ताडन करते हैं, वे मानों अपने सन्तान और शिष्यों को अपने हाथ से अमृत पिला रहे हैं और जो सन्तानों व शिष्यों का लालन करते हैं वे अपने सन्तानों और शिष्यों को विष पिला के नष्ट–भ्रष्ट कर देते हैं, क्योंकि लाड़न से सन्तान और शिष्य दोषयुक्त तथा ताड़ना से गुणयुक्त होते हैं।[21] चाणक्यनीतिकार ने माता, पिता व आचार्य का सन्तान व शिष्य के प्रति व्यवहार को आयुक्रम से बांटा है। यथा –

'लालयेत् पंचवर्षाणि दशवर्षाणि ताडयेत्।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्।।[22]

अर्थात् पांच वर्ष तक पुत्र के साथ प्यार और दुलार करना चाहिये तत्पश्चात् दस वर्ष तक ताड़ना करनी चाहिए और सोलहवाँ वर्ष आरम्भ होते ही पुत्र के साथ मित्र जैसा व्यवहार करना चाहिये।

चाणक्यनीति में महाभाष्यकार के कथन को ही पुनः इस प्रकार सिंचित किया है कि – 'लालनाद बहवो दोषास्ताडनाद् बहवो गुणाः। तस्मात् पुत्रं च शिष्यं च ताडयेन्न तु लालयेत्।।[23] कबीर ने महाभाष्यकार व चाणक्यनीतिकार के आचार्य शिष्य के सम्बन्ध में व व्यवहार को कुम्हार व घड़े से उपमित कर रहा है –

'गुरू कुम्हार शिष्य कुम्भ है गढ़–गढ़ काढे खोट।
अन्दर हाथ सहार दे, बाहर मारे चोट।।

शिष्य को भी आचार्य का आज्ञा बिना किसी सन्देह के माननी चाहिये। रघुवंश में कहा है – 'आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया।'[24]

कक्षा में सभी विद्यार्थी समान नहीं होते। एक ही माता–पिता से और एक ही नक्षत्र में जन्मे हुए सब बालक गुण–कर्म–स्वभाव में समान नहीं होते, जैसे बेर और उसके कांटे समान नहीं होते।[25] वेद में कहा है कि दोनों हाथ एक समान होते हुए भी एक समान कर्म नहीं कर पाते। एक माता वाली होती हुई भी दो बछड़ियाँ एक समान दूध नहीं देती। दो जुड़वा भाईयों का सामर्थ्य बल, शक्ति भी एक जैसा नहीं होता। रिश्ते नातेदार सम्बन्धी होते हुए भी दो मनुष्य एक समान दूसरों को तृप्त नहीं करते अथवा एक समान दान नहीं देते।[26] एक और वेदमंत्र में विद्यार्थियों की असमानता का बहुत सुन्दर प्रतिपादन किया है – एक समान आंखों व कानों वाले होते हुए भी एक साथ ज्ञान प्राप्त करने वाले विद्यार्थी मन के वेगों के एक समान नहीं होते। विद्यार्थियों की ग्राहक क्षमता को जलाशय में पानी से उपमित किया है। कोई मुख तक गहरे तालाब के समान तो कोई बगल तक गहरे तालाब के समान और डुबकी लगाकर स्नान करने योग्य तालाब के समान क्षमता वाला होता है।[27] इस प्रकार वेद का आदेश है कि सभी विद्यार्थियों की क्षमता भिन्न–भिन्न होती है। अतः उनकी क्षमतानुसार ही उन्हें शिक्षा का उपदेश करे। वास्तव में जन्म से सभी शूद्र होते हैं।[28] आचार्य ही शिष्य की क्षमतानुसार शिष्य में वर्ण – (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) धर्म का निश्चय कर उन्हें तत् तत् कर्म हेतु समाज में स्थान प्राप्त कराता था। अतः भारतीय संस्कृति में प्राचीन वर्णव्यवस्था जन्मना न होकर कर्मणा थी। मनु महाराज का कथन है –

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः।
उत्पादयति सावित्रया सा सत्या सा जरामरा।।[29]

इस श्लोक पर कुल्लूकभट्ट का भाष्य भी द्रष्टव्य हैः–

आचार्यः पुनर्वेदज्ञोऽस्य माणवकस्य यां जातिं यज्जन्म विधिवत् सावित्रयोति साड्.गोपनयनपूर्वकं सावित्रयनुवचनेनोत्पादयति सा जातिः सत्या अजरा च। ब्रह्मप्राप्तिफलत्वात्।।

अर्थात् वेदज्ञ आचार्य जिस वर्ण में जन्म दे देता है, वह वर्ण ही उसका स्थिर समझा जाता है।

कर्मो की अच्छाई–बुराई से शूद्र ब्राह्मण हो जाता है और ब्राह्मण शूद्र। यही बात क्षत्रिय और वैश्य के लिये भी है। यथा मनुस्मृतिकार का कथन है –

'शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च।।[29]

उपनयन संस्कार के समय आचार्य एक प्रतिज्ञा मन्त्र बोलता है। यथा –

'मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्।।[30]

भाव यह है कि आचार्य और शिष्य का सम्बन्ध बहुत पवित्र व दृढ़ होता है। दोनो एकचित्त, एक वाणी व एक संकल्प वाले हो जाते हैं। ऐसा ब्रह्मचारी आचार्य के निरीक्षण में रहते हुए अन्तेवासी होकर मेखला धारण कर घोर परिश्रम कर व तपोमय जीवन से तीनों लोकों को पुष्ट करता है। जैसा कि अथर्ववेद में कहा है – 'ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति।'[31] वह ब्रह्मचारी, वह शिष्य सर्वगुण सम्पन्न होकर इन्द्रत्व को प्राप्त करता है और सर्वदुरितों का विनाश कर असुरविनाशन करता है। ऐसा वर्णन अथर्ववेद में मिलता है – 'इन्द्रो ह भूत्वाऽसुरांस्ततर्ह।'[32]

तैत्तिरीयोपनिषद् में गुरू–शिष्य सम्बन्ध को इतना गहरा बताया है कि दोनों का उद्देश्य एक हो, चित्त एक हो, दोनों में ऐसे सामंजस्य से ही श्री वृद्धि व विद्या की तेजस्विता प्रकट होती है। यथा –

'सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु वा विद्विषावहै।।[33]

गुरु के आशीर्वाद से शिष्य का यश और तेजस्वी शिष्यों से गुरु का यश बढ़ता है। गुरु–शिष्य सम्बन्ध अति प्राचीन है। गुरु विश्वामित्र की कृपा से श्रीराम का यश बढ़ा व महर्षि दयानन्द की तेजस्विता से गुरू विरजानन्द का यश बढ़ा। वास्तव में दोनों के सामंजस्य से

ही संसार में सद्भावों का उदय व तेजस्विता की वृद्धि होती है। तैत्तिरीयोपनिषद में भी कहा है – 'सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्।'[34] आचार्य को पूर्वरूप व अन्तेवासी को उत्तररुप बताया है तथा दोनों के बीच सन्धि विद्या है। सन्धान प्रवचन है।[35] गुरु–शिष्य दोनों के सम्बन्ध से ही संसार में सद्धर्म विकसित होता है। यह परम्परा अटूट है, अविच्छिन्न है। यह परम्परा इतनी अविच्छिन्न है कि इसका अवच्छेद काल भी नहीं कर सकता। वह आदिमूल गुरु की सब गुरुओं का गुरु है– 'स एषः पूर्वषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।'[36] हर ग्रन्थ के आदि और अन्त में ग्रन्थकार अपने गुरु का स्मरण करता है। आदि में मंगलाचरण के रूप में, मध्य में व अन्त में पुष्पिकाओं के रूप में प्रत्येक ग्रन्थकार अपने–अपने गुरु का स्मरण करता है। गुरु भी प्रतिपल छात्रवृन्द के हितसाधन व ज्ञानवृद्धि हेतु अनवरत लगा रहता है इसलिए कहा भी है–

'आ मा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा।
यशो जनेऽसनि स्वाहा। यथापः प्रवता यन्ति।
एवं मां ब्रह्मचारिणः, धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा।।'[37]

आचार्य की ईश्वर से यह प्रार्थना है कि मुझे अच्छे–अच्छे ब्रह्मचारी प्राप्त हों जैसे जल नीचे की ओर बढ़ते है वैसे ही सब ओर से मेधावी ब्रह्मचारी मेरे पास आवें। आचार्य समावेतन संस्कार अर्थात् शिक्षा पूरी होने के पश्चात् ब्रह्मचारी शिष्य को कुछ क्रियात्मक बातों की शिक्षा देता है– सच बोलो, धर्म का आचरण करो, स्वाध्याय करने में कभी प्रमाद न करो।

गुरु के भी अच्छे ही आचरणों का अनुकरण करना चाहिए, अन्यों का नहीं। जो कोई भी विद्वान् घर पर आवे तो उसका सदैव सत्कार करना चाहिए। प्रत्येक अवस्था में दान अवश्य करना चाहिए।[38]

जहाँ तैत्तिरीयोपनिषद् में आचार्य सब ओर से शिष्यों का आह्वान करता है वहीं यास्कीय निरुक्त में उद्धृत कुछ श्लोकों में यह भी कहा गया है कि गुरु किस–किस शिष्य को शिक्षा न दे। आख्यानत्मक ढंग से यह बात समझायी गई है। विद्या ब्राह्मण आचार्य के पास आई और बोली – हे ब्राह्मण! तू मेरी रक्षा कर। मैं तेरे सुख का खजाना हूँ तू असूयक–निन्दक, कुटिल तथा अजितेन्द्रिय विद्यार्थी को मेरा उपदेश मत कर, तब मैं तेरे लिए वीर्यशालिनी होऊँगी।[39] जो शिष्य गुरु का आदर नहीं करते तो शिक्षा भी उन शिष्यों का पालन नहीं करती। निश्चय से गुरु भार–हानि करता है।[40] गुरु के बताए मार्ग से हृदय की सारी ग्रन्थियों का भेदन हो जाता है। सारे संशय मिट जाते हैं।[41] जीवन में सरसता आ जाती है। जैसे समुद्र की सीप में पड़ा बादल का जल मोती बन जाता है वैसे उच्च कोटि के विद्यार्थी में आचार्य का ज्ञान विशेष होता है।[42] गुरु और शिष्य का सम्बन्ध अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों प्रकार की उन्नति में सहायक होता है। गुरुजनों की सेवा से स्वर्ग, धन–धान्य, विद्या, पुत्र और सुख सब कुछ प्राप्त होता है, कुछ भी दुर्लभ नहीं होता।[43] धर्मज्ञगुरुजनों की पूजा करने से अनुपम एवं महान् धर्म प्राप्त होता है।[44] दक्षिणामूर्तिगुरुस्तोत्र में गुरु युवा है, वृद्ध शिष्य हैं। गुरु मौन है लेकिन शिष्यों के सभी संशय छिन्न–भिन्न हो गए हैं – ऐसा वर्णन मिलता है। यथा –

'चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशया।।[45]

गुरु की कृपा से दिव्य दृष्टि प्राप्त हो सकती है। वही ज्ञानांजन शलाका से अज्ञानतिमिरान्धत्व को दूर कर प्रकाश करने वाला है। कहा भी गया है –

'अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानांजनशलकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्री गुरवे नमः।।

आचार्य को ब्रह्म की मूर्ति कहा गया है – 'आचार्यो ब्राह्मणो मूर्तिः।[46] इस प्रकार गुरु के प्रति पूर्ण समर्पण ही सब साधनों का मूल है। सभी ऋषि, मुनि, कवि, महकावि गुरु की कृपा से ही विविध विधाओं में पारंगत हुए। गुरु आचार्य सदा देवतुल्य पूज्य हैं। अतः तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा है – 'आचार्य देवो भव।'

संदर्भ

1. शतपथब्राह्मण का. 14/प्रपा. 5/ब्रा.8/क्र.21 छन्दोग्य उप. प्रपा. 6/ख. 14
2. सत्यार्थ प्रकाश द्वितीयसमुल्लास
3. शंकराचार्य विरचित प्रश्नोतरी 7
4. संस्कृत–हिन्दी–कोश–वामन शिवराम आप्टे
5. गुकारस्त्वन्धकारः स्यात् रेफस्तस्य निवर्तकः। अज्ञाननिवर्तकत्वात् गुरुरित्यभिधीयते।। चाणक्यनीतिदर्पण–स्वामी जगदीशवरानन्द सरस्वती, पृ0. 61
6. याज्ञ. 1/34
7. संस्कृत–हिन्दी–कोश–वामन शिवराम आप्टे पृ0. 349
8. यजुर्वेद 2/33
9. अथर्ववेद 11/5/3
10. निरुक्त 1/4
11. यजुर्वेद 6/14,15
12. अथर्ववेद 11/5/17
13. अथर्ववेद 11/5/14– 'आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषध्यः प्यः।'
14. कठोपनिषद् 1/4 'मृत्यवे त्वा ददामीति'
15. अथर्ववेद 1/1/2
16. अथर्ववेद 1/1/3
17. अथर्ववेद 1/1/4
18. अथर्ववेद 11/5/16
19. चाणक्यनीति 2/10
20. महाभाष्य 8/1/18
21. चाणक्य नीति 2/12
22. चाणक्यनीति 3/18
23. रघुवंश 14/46
24. चाणक्य नीति 5/4 'एकोदरसमुद्भूता एकनक्षत्रजातकाः।'
25. ऋग्वेद 10/117/9 'समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः'
26. ऋग्वेद 10/71/7 'अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो।'
27. जनमना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते। वज्र उप., अजि सं0. 142
28. मनुस्मृति 2/148
29. मनुस्मृति 10/65
30. परस्कार गृ.सू0. 1/8/8 गोभिल गृह्य सूत्र 2/2/16
31. अथर्ववेद 11/5/4
32. अथर्ववेद 11/5/7
33. तैत्तिरीयोपनिषद् 2/1/1
34. तैत्तिरीयोपनिषद् 1/3/1
35. तैत्तिरीयोपनिषद् 1/3/4
36. योगदर्शन 1/26
37. तैत्तिरीयोपनिषद् 1/4/2,3
38. तैत्तिरीयोपनिषद् 1/11/2
39. निरुक्त 1/4
40. ऐत. ब्रा. 4/13 सं0 वै गुरुर्भारः श्रृणाति।
41. भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
42. मालविकाग्निमित्रम् 1.6 'पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति'
43. अयोध्या का. 31/36
44. अयोध्या का. 31/16
45. दक्षिणामूर्तिगुरुस्तोत्रम् 12
46. मनु0. 2/226